National Journal of
Hindi & Sanskrit Research

ISSN: 2454-9177
NJHSR 2026; 1(64): 151-156
© 2026 NJHSR
www.sanskritarticle.com

डॉ.स्वाति सिंह
सहायक प्रवक्ता, हिंदी विभाग,
डॉ.राममनोहर लोहिया अवध-
विश्वविद्यालय, अयोध्या

Correspondence:
डॉ.स्वाति सिंह
सहायक प्रवक्ता, हिंदी विभाग,
डॉ.राममनोहर लोहिया अवध-
विश्वविद्यालय, अयोध्या

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता का शिल्प

डॉ० स्वाति सिंह

"छायावाद के कवि शब्दों को तोल कर रखते थे,
प्रयोगवाद के कवि शब्दों को टटोल कर रखते थे,
नयी कविता के कवि शब्दों को गोल कर रखते थे
सन् साठ के बाद के कवि शब्दों को खोल कर रखते हैं"

(कल सुनना मुझे - धूमिल, पृ.सं. 36)

कथ्य और शिल्प के बीच एक अविभाज्य संबंध होता है। वे एक-दूसरे के पूरक होते हैं। कोई भी रचनाकार अपनी रचना में उसी शिल्प का प्रयोग करता है जो रचना के कथ्य के अनुरूप हो। जिस तरह 'गोदान' की भाषा में 'शेखर एक जीवनी' उपन्यास नहीं लिखा जा सकता उसी प्रकार 'शेखर एक जीवनी' की भाषा में 'गोदान' नहीं लिखा जा सकता था। निराला की कविता 'तोड़ती पत्थर', 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' में जो शिल्प संबंधी भेद है वह कथ्य के कारण ही है। किसी भी रचनाकार की रचना में प्रयुक्त भाषा बिंब और प्रतीक इस बात का संकेत करते हैं कि वह अपनी रचना किस वर्ग के पाठकों को ध्यान में रखकर लिख रहा है। यदि कोई रचनाकार साधारण मनुष्यों या किसान-मजदूरों के जीवन से जुड़ी घटनाओं को अपनी रचना का विषय बनायेगा तो उसकी भाषा सहज एवं सरल होगी और उसके बिंब प्रतीक भी लोक-जीवन से जुड़े होंगे और यदि किसी रचनाकार की रचना का विषय महानगरीय जीवन से जुड़ा होगा तो उसके पात्रों के नाम, भाषा, बिंब और प्रतीक भी उन्हीं के जीवन से जुड़े होंगे। प्रेमचंद की कहानियों और निर्मल वर्मा की कहानियों के शिल्प या अज्ञेय और नागार्जुन की कविताओं के शिल्प में जो अंतर है वे उनके कथ्य के कारण ही है।

रचनाकार का परिवेश और उसका जीवनानुभव भी रचनाकार की रचनाओं के कथ्य और शिल्प को प्रभावित करता है। जैसे यदि किसी रचनाकार का परिवेश शहरी जीवन हो और उसे ग्रामीण जीवन का अनुभव न हो तो वह ग्रामीण जीवन से जुड़ी रचना प्रामाणिक रूप से नहीं कर सकता। अगर वह करेगा भी तो उसकी रचना यथार्थ से परे होगी।

बदलते हुए समाज और जीवन मूल्यों का भी रचना के कथ्य और शिल्प पर प्रभाव पड़ता है। जैसे प्राचीन काव्य में महाकाव्य बहुत सारे लिखे गये जैसे प्रियप्रवास, कामायनी आदि किन्तु आधुनिक काव्य में महाकाव्यों की जगह लंबी कविताओं ने ले ली। क्योंकि सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ बदल गईं और समकालीन यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए महाकाव्यों की उदात्त भाषा और शिल्प अपर्याप्त हो गये। इसलिए 'अंधेरे में', 'पटकथा', 'लुकमान अली', 'नाटक जारी है' जैसी लंबी कविताएँ लिखी गईं और भाषा में सपाटबयानी की प्रवृत्ति बढ़ी।

इस प्रकार किसी भी रचना की सफलता के लिए कथ्य का शिल्प के अनुरूप और शिल्प का कथ्य के अनुरूप होना आवश्यक है, क्योंकि कथ्य और शिल्प दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

कथ्य और शिल्प का अंतर्संबंध

कला के किसी भी रूप का अध्ययन करने पर हमारे सामने कथ्य और शिल्प या दूसरे शब्दों में कहें तो वस्तु और रूप के अंतर्संबंध का प्रश्न स्वाभाविक तौर पर उठ खड़ा होता है। कला के विभिन्न रूपों में वस्तु और रूप के अंत:संबंधों की प्रकृति भी भिन्न-भिन्न होती है।

कविता के कथ्य और शिल्प का अध्ययन अन्य कला रूपों से भिन्न और विशिष्ट होता है। कोई भी भाव या विचार जैसे ही समाज में अपने आपको अभिव्यक्ति करता है उसका एक निश्चित रूप हमारे सामने प्रकट हो जाता है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लोगों की कलाएं भी भिन्न-भिन्न होती हैं और ये कलाएं कितनी उत्कृष्ट होंगी यह उन लोगों की निजी क्षमता पर ही ज्यादा निर्भर करता है।

साहित्य और समाज एक दूसरे से गहरे रूप में जुड़े हैं अत: स्वाभाविक है कि समाज में परिवर्तन के साथ साहित्य के वस्तु और रूप में भी परिवर्तन होता है। कोई भी कथ्य अपने अनुरूप ही शिल्प की भी मांग करता है और यदि किसी रचना में शिल्प, कथ्य के अनुरूप न रहा तो रचना निर्जीव और बेअसर हो जाती है। जैसे निराला की कविता 'राम की शक्ति पूजा' का शिल्प उनकी अन्य कविताओं के शिल्प से काफी भिन्न है किन्तु क्या कोई और शिल्प उस कविता को इतना प्रभावी बना सकता था? कविता में कथ्य और शिल्प का अविभाज्य संबंध होता है। संवेदना और संरचना को अलग-अलग करके देखने वाली दृष्टि एकांगी होगी। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं- "भाषा और संवेदना एक ऐसा संश्लेष है जिसे अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता।"[1] यही बात अज्ञेय 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में स्वीकार करते हुए लिखते हैं- "वस्तु से रूपाकार को अलग नहीं किया जा सकता कि दोनों का सामंजस्य अधिक समर्थ और प्रभावशाली होता है।"[2]

कविता में कथ्य और शिल्प के अन्योन्याश्रित संबंध को मानना तो स्वाभाविक है किन्तु कुछ काव्यशास्त्री और आलोचक शिल्प को ही काव्य कानकर अतिरेक का परिचय देते हैं। दण्डी, भामह, वामन का अलंकार और अलंकार्य को अभिन्न मानना और क्रोंचे की अभिव्यंजनावाद संबंधी मान्यता को इस रूप में देखा जा सकता है। अनेक आलोचकों ने कथ्य और शिल्प की अविभाज्यता को तो स्वीकार किया है किन्तु शिल्प को ही कविता मान लेने से वे सहमत नहीं हैं। कवि आलोचक विजय कुमार लिखते हैं- "दोनों के बीच अविभाज्यता का महत्व तो स्पष्ट है पर दोनों को पूर्णत: अभेद मानकर मात्र रूप को ही महत्व देना एक प्रकार का यांत्रिक संरचनावाद है जिसमें बाह्य जगत की जीवंत प्रक्रिया का महत्व अत्यंत क्षीण हो जाता है।"[3]

कलावादी आलोचक किसी भी रचना की श्रेष्ठता की कसौटी रचना में निहित शिल्पगत सौंदर्य में ही देखते हैं और उसके निर्माण में समाज की भूमिका से इन्कार करते हैं। इस रूपवादी मान्यता के विरूद्ध प्रगतिवादी चिंतन ने रूप को सामाजिक वस्तु का ही प्रतिफलन माना है। इस संबंध में अर्नेस्ट फिशर का मत है- "कला में रूप और वस्तु की समस्या एक सामाजिक यथार्थ है, लेकिन यह विभिन्न स्तरों में और अधिक संश्लिष्टता के साथ घटित होती है, सामाजिक विषय-वस्तु का आधार उत्पादन के साधन हैं जो मनुष्य के सामाजिक संगठन से लेकर उसकी कला एवं संस्कृति तक का नियमन करते हैं।"[4] *इससे* यह स्पष्ट होता है कि यथार्थ के नये रूप से वस्तु की स्थिति में जो परिवर्तन उत्पन्न होता है वह पुराने रूपगत संरचना की जगह नई रूपगत संरचना के सांचे का माहौल निर्मित करता है। हिन्दी साहित्य में छायावाद से लेकर समकालीन कविता तक कई सारे आंदोलनों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। प्रत्येक काव्य आंदोलन अपने में विचार और भाव के स्तर पर कुछ-न-कुछ नवीनता लिए हुए था। स्वाभाविक था कि ये नये भाव और विचार रचनाकार से नवीन शिल्प की मांग करते क्योंकि पुराने उपमानों से नवीन भावों की अभिव्यक्ति कैसे होती है? यही कारण है कि निराला छायावाद में ही छन्दों की मुक्ति की बात करते हैं और अज्ञेय प्रयोगवाद में नये उपमानों और प्रतीकों के प्रयोग का आग्रह करते हैं। क्योंकि उनके अनुसार –

"ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।"[5]

काव्य क्षेत्र में जब नवीन वस्तु का आगमन होता है तो कविता का परंपरागत शिल्प सजीवता के साथ उसे प्रकट करने में असमर्थ हो जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए जार्ज लूकाच कहते हैं- "विषय वस्तु की नवीनता नये कला रूपों की मांग करती है जो इस बात को प्रमाणित करता है कि वस्तु में परिवर्तन ही मूलत: कला-रूपों का कारण है।"[6]

कथ्य और शिल्प के संबंध पर विचार करने पर एक तथ्य यह भी निकलता है कि कविता में संप्रेषण की समस्या भी कथ्य और शिल्प की समस्या से जुड़ी हुई है। इस संबंध में अजय तिवारी का कथन उल्लेखनीय है- "कविता के शिल्प का सवाल वास्तव में संप्रेषणीयता के सवाल से बहुत अलग नहीं है। संप्रेषणीयता की समस्या का एक धरातल निश्चित रूप से कविता के संबोधित पाठकों से जुड़ा हुआ है। पर, उसका दूसरा और उतना ही महत्वपूर्ण धरातल है उसमें चुने गए विषय का जिसे शिल्प कहते हैं वह इस विषय वस्तु के गठन का रूप है। विषय वस्तु की प्रकृति और कवि के इष्ट पाठक मिलकर इस गठन के रूप को प्रभावित करते हैं।"[7] अर्थात कविता में कथ्य और शिल्प का अंतर्संबंध कवि की विचार और संस्कार प्रक्रिया से गहरे रूप में जुड़ा है। कवि के रचनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण में जितना उसकी विचार और संस्कार प्रक्रिया का योगदान होता है, "उससे कम उसके भाव एवं इंद्रिय बोध का नहीं होता। इसीलिए कविता के शिल्प विधान को प्रभावित करने वाली चीजों में कवि की विचारधारा के अलावा उसके भाव बोध और इंद्रिय बोध की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। और इसीलिए किसी भी कवि के शिल्प-विन्यास का अध्ययन करते हुए उसे संपूर्ण रागात्मक अंत:संसार इन्द्रियबोध, भाव बोध और विचारधारा को जान पाना असंभव नहीं है।"[8]

इस रूप में हम स्वातंत्र्योत्तर कविता अर्थात नई कविता, अकविता, जनवादी कविता आदि के कथ्य और शिल्प के अंतर्संबंध को समझ सकते हैं।

नई कविता का कवि कविता लिखने के लिए विषय से ज्यादा अपने अनुभव पर निर्भर रहता था। नई कविता का सौंदर्यबोध बहुत कुछ प्रयोगवादी प्रभाव लिए हुए था, अर्थात उसका सौंदर्यबोध आत्मनिष्ठ और व्यक्तिवादी अधिक था। इसी वजह से शायद नई कविता सिर्फ मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवियों के अनुभव द्वारा निर्मित वस्तुगत सौंदर्य चेतना के दायरे में सीमित हो गई। नई कविता की इन्हीं कथ्य और शिल्पगत कमियों की वजह से अकविता आंदोलन हिन्दी कविता में प्रकट हुआ। जो कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से नई कविता के उलट था। विजय कुमार के शब्दों में- "अकविता की अशांत और उग्र मन:स्थिति, विक्षोभपूर्ण अनुभव और पूर्ण नकारात्मकता एक ऐसी आक्रामक और नंगी भाषा का इस्तेमाल करती है जो सीधे नई कविता की शालीन और भव्य काव्य मुद्रा के विरोध में तनी हुई प्रतीत होती है। नई कविता वस्तुतत्व में पनप रहे जिस तनाव को

अपनी मध्यवर्गीय खोखले अभिजात्य से ढकना चाहती थी, साठोत्तरी कविता उसे उघाड़ कर देना चाहती है।"[9]

जनवादी कवियों के लिए महत्वपूर्ण वह विषय है जो कविता में संप्रेषित किया जा रहा है न कि संप्रेषण का तरीका। जनवादी शिल्प के बारे में विचार प्रकट करते हुए वशिष्ठ अनूप लिखते हैं- "जनवादी शिल्प कथ्य को और अधिक सशक्त बनाने के लिए तथा उसके प्रभाव को गहराने के लिए होता है न कि चमत्कार पैदा करके लोगों को चोंकाने के लिए। क्योंकि जनवादी शिल्प ऐसी क्रांतिकारी अंतर्वस्तु से सम्बद्ध है, जो सामाजिक संबंधों को बदलने के विचार और व्यवहार की ऐतिहासिक मांग से जुड़ा हुआ है।"[10]

कथ्य और शिल्प के अंतर्संबंधों के विषय में विद्वानों के विचारों में विचारधारात्मक दबाव को साफ तौर पर देखा जा सकता है। कहीं कथ्य को वरीयता दी गई है तो कहीं रूप को। लेकिन जिन विद्वानों ने काव्य में इसके संश्लिष्ट स्वरूप की वकालत की है उसी विचार दृष्टि को अपनाकर काव्य का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता की भाषा

कविता की भाषा का निर्माण उसके निर्माण की पृष्ठभूमि के स्वभाव के आधार को लिए होता है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के भाषिक निर्माण के परिप्रेक्ष्य को इस आधार पर समझा जा सकता है। इस दौर की कविता के स्वभाव के निर्माण की पृष्ठभूमि का जहाँ तक सवाल है तो- "स्वतंत्रता मिलने के उपरांत डेढ़ दशक में जो 'नयी कविता' लिखी गई उसका समूचा बोध विश्वयुद्ध के बाद दुनिया भर में चले शीत युद्ध की राजनीति से प्रभावित था। यह कविता अपने पूर्ववर्ती धारा प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में आई थी और गजानन माधव मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो नई कविता के बुर्ज से शीतयुद्ध की गोलांदाजी की गई थी।"[11]

'नई कविता' के कवियों की कविताओं में कथ्य और भाषा का तनावपूर्ण संबंध मुख्य रूप से दिखाई पड़ता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं उसे देखते हुए यह आवश्यक हो गया था कि कवि अपनी कविताओं में तत्कालीन सामाजिक यथार्थ को प्रकट करने के लिए नई भाषा और नये बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग करते। इसीलिए अज्ञेय लिखते हैं- "नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से संबंध रखता है। नये कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए, जिन्होंने शब्द को कुछ नहीं दिया है वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नहीं हैं।"[12]

यदि हम नई कविता के कवियों पर विचार करें तो हम देखते हैं कि ये कवि संवेदना और शिल्प दोनों आधार पर दो धाराओं में बंटे हुए हैं। एक तरफ अज्ञेय, शमशेर, गिरिजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे और लक्ष्मीकांत वर्मा जैसे कवि हैं जो अपने प्रयोगशीलता के तमाम दावों के बावजूद पुराने काव्य संस्कारों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाये तो दूसरी ओर मुक्तिबोध, सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय जैसे कवि हैं जिन्होंन कथ्य और शिल्प में संतुलन रखते हुए कविता को व्यक्तिवादी दायरे से निकालकर उसे अधिक से अधिक सामाजिक बनाया।

प्रयोगवाद और नई कविता का आरंभ छायावाद के विरोध में हुआ था। कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर नई कविता के कवि छायावादी संस्कारों से मुक्त होना चाहते थे। इसे प्रभाकर माचवे के इस कथन से समझा जा सकता है जो उन्होंने तार सप्तक में लिखा था- "छायावाद हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी कविता का एक मानसिक रोग है।"[13] किन्तु छायावाद को हिस्टीरिया बताने वाला यह कवि स्वयं इस रोग से कितना ग्रसित है इसका प्रमाण इसी कवि की पंक्तियों से हो जाता है-

"किन्तु अवंति सुंदरी वैसी ही अज्ञात-जरा यौवन अप्रतिहत
मदिर मल्लिका मधुर मालती परिजात-यूथी शौरथ श्लथ।।"[14]

इन पंक्तियों से यदि लेखक का नाम हटा दिया जाए तो कोई भी कविता का पाठक इसे पंत, प्रसाद या निराला की कविता समझेगा। केवल प्रभाकर माचवे ही नहीं 'नयी कविता' के संपादक जगदीश गुप्त भी छायावादी कविता के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये। न भाषा के स्तर पर न कथ्य के। 1955 में प्रकाशित उनके कविता संग्रह 'नांव के पांव' से एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा –

"नभ-सर में उठती विभा लहर,
जति मुकुलित दल छहर-छहर
बहता सुगंध मधु मुग्ध पवन,
खिल उठता निशि का पंकज बन।"[15]

इसी तरह प्रयोगवादी कवि अज्ञेय भी छायावादी कविता के कथ्य और शिल्प से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं। ये बात भी सच है कि अज्ञेय ने हिन्दी कविता को कथ्य और शिल्प के स्तर पर बहुत कुछ नया भी दिया है। मध्यवर्गीय व्यक्ति की कुंठा, संत्रास और अकेलेपन की बहुत ही सहज अभिव्यक्ति अज्ञेय और उनकी धारा के अन्य कवियों में मिलती है किन्तु इसके लिए उन्होंने जिस भाषा और शिल्प का सहारा लिया वह अभिजात्यपन लिए हुए है इसीलिए इन कविताओं में व्यापक सामाजिक चिंता नहीं दिखती और ये कविताएं पाठकों को व्यक्तिवाद की तरफ धकेल देती हैं। इस धारा के कवियों की कविताओं में जनभाषा और लोकगीतों का पूरा अभाव दिखता है जो कविता की लोकतांत्रिक चेतना के लिए सही नहीं था।

भाषा के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं- "जब पंडितों की काव्य-भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोक-भाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोक-भाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य-परंपरा में नया जीवन डालता है।"[i] 'अज्ञेय' की भाषा का बौद्धिक स्तर सामान्य पाठक की समझ से बाहर था। मुक्तिबोध, सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय अज्ञेय की प्रयोगशाला से निकले कवि थे किन्तु इन्होंने अपनी कविताओं के लिए अज्ञेय की अभिजात्य भाषा की जगह लोक में प्रचलित सामान्य भाषा को आधार बनाया। सिर्फ भाषा के स्तर पर ही नहीं कथ्य के स्तर पर भी इन कवियों ने अपना अलग रास्ता चुना। अज्ञेय की भांति इन कवियों में भी असंतोष के स्वर हैं किन्तु यह स्वर वैयक्तिक न होकर सामाजिक था। भाषा के इस अभिजात्य से ये कवि उकता गये –

"बिंब और प्रतीक को/मारिए गोली
बोलिए मेरे साथ/खड़ी फर्रुबाबादी बोली"[16]

इतना ही नहीं कवि स्पष्ट घोषणा भी करता है-

"लीजिए पहले मैं ही मरता हूँ
अभिजात्य तोड़ता हूँ
जो भी शब्द आता है जबान पर
कहने में नहीं डरता हूँ।"[17]

मुक्तिबोध, सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय ने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मसाज में उपजी विसंगतियों और सत्ता के जनविरोधी चरित्र को अपनी कविताओं में उजागर किया है साथ ही जन आंदोलनों से भी गहरा तादात्म्य स्थापित किया है। जाहिर है इन बातों की अभिव्यक्ति दुरुह और अभिजात्य वाली भाषा में नहीं हो सकती। जो लोग कविता को स्वायत्त बनाने में लगे हुए थे उनसे अपनी भाषा को बचाने का उपक्रम ये कवि निरंतर करते हैं। जहां एक ओर रघुवीर सहाय लिखते हैं –

"..... भाषा कोरे वादों से
वायदों से भ्रष्ट हो चुकी है सबकी"[18]

तो दूसरी ओर सर्वेश्वर लिखते हैं –

"एक गलत भाषा में
गलत बयान देने से
मर जाना बेहतर है,
यही हमारी टेक है
और अब छीनने आये हैं वे
हम से – हमारी भाषा
यानी हम से हमारा रूप
जिसे हमारी भाषा ने गढ़ा है।"[19]

सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय जैसे कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से कविता को अभिजात्यपन से निकालकर लोक के बीच लाकर खड़ा कर दिया। हिन्दी कविता में जो भाषिक अभिजात्यपन हावी था उसके विपरीत इन कवियों ने साधारण बोल-चाल की भाषा में अपनी कविताएं लिखी और कविता को अधिक से अधिक जनतांत्रिक बनाया। सर्वेश्वर ने लोक गीतों का भी अपनी कविताओं में प्रयोग किया है। इन कवियों के आगमन से भाषा के विभिन्न रंग हिन्दी कविता में देखने को मिलते हैं-

1. "चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ
दे रोटी?
कहाँ गयी थी बड़े सबेरे
कर चोरी?
लाला के बाजार में
मिली दुअन्नी'[20]

2. होय कटीली
आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भरकर भात पसाइये।"[21]

नई कविता जो बिंबों और प्रतीकों के जाल में उलझकर रूपवाद में परिवर्तित होती जा रही थी उसे इन कवियों ने अपनी सरल और लोक-प्रचलित भाषा के माध्यम से आम पाठकों से जोड़ा। इन्होंने अपनी कविताओं के लिए उन्हीं बिंबों और प्रतीकों का सहारा लिया जो तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने में सहायक हों। जहां बिंब यथार्थ को स्पष्ट करने में असमर्थ हुए वहां रघुवीर सहाय जैसे कवियों ने सपाटबयानी का भी सहारा लिया। इन कवियों ने कथ्य और शिल्प के स्तर पर हिन्दी कविता को पंडितों की कविता होने से बचाया और उसे व्यापक जन जीवन से जोड़ा। नई कविता की तरह ही स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता आंदोलन में अकविता आंदोलन भी महत्वपूर्ण रहा है। अकविता आंदोलन सिर्फ वस्तुबोध के स्तर पर ही नहीं काव्यभाषा के स्तर पर भी अपनी अहम पहचान रखता है। धूमिल, जगदीश चतुर्वेदी, स्याम परमार, गंगा प्रसाद विमल, सौमित्र मोहन, राजकमल चौधरी, मोना गुलाटी और श्री राम शुक्ल अकविता के प्रमुख कवियों में से हैं। इन कवियों में हर चीज के प्रति नकार दिखता है। इन कवियों की कविताएं अस्वाभाविक यौन चित्रों से भरी हुई है। इनकी कविताओं में भाषा का अभिजात्यपन तो नहीं है किन्तु यौन-प्रतीकों और बिंबों की इतनी भरमार है कि कभी-कभी पाठकों को जुगुप्सा होने लगती है। भाषा इन कवियों के लिए क्या है उस बारे में कवि लिखता है-

"हम उस भाषा नामक लड़की को
प्यार से बुलाकर
उसी गुफा में पढ़ाते रहे
उसके गर्भाधान के रास्ते में फंसे हुए
अनेक लिपियों के सड़े हुए लूथ
एक एक कर बाहर निकालते रहे"[22]

जिस तरह सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय ने प्रयोगवादी कविता के अभिजात्य को तोड़कर अपनी कविता के लिए नया रास्ता चुना, जो राजपथ नहीं जनपथ था उसकी प्रकार धूमिल ने भी बहुत जल्दी ही अकविता की अँधेरी गुफा से बाहर आकर संसद से सड़क तक की यात्रा तय की। धूमिल साठोत्तरी हिन्दी कवियों में भाषा पर विचार करने वाले कवियों में प्रमुख हैं। 'धूमिल' भाषा के नाम पर राजनीति करने वाले राजनेताओं और भाषा को आम जन से काटने वाले कलावादियों की साजिश को अच्छी तरह समझते हैं। अपनी कविता 'भाषा की रात' में धूमिल इन साजिशों का पर्दाफाश करते हैं –

"बहस के लिए/भूख की जगह/भाषा को रख दिया है/
उन्हें मालूम है कि भूख से/भागा हुआ आदमी/
भाषा की ओर जाएगा।"[23]

धूमिल कविता में शब्दों को खोलकर रखने वाले कवि हैं। धूमिल की कविताओं में भाषा का बनावटी रूप नहीं बल्कि आक्रोशित जन भाषा का सहज गद्यात्मक और सूक्तिपरक रूप देखने को मिलता है जो अपने समय के सामान्य मनुष्य की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है। उनके शब्दों में- "भाषा जब मात्र कलात्मकता या सौंदर्य चेतना बन जाती है तो वह धीरे-धीरे निर्जीव-सी हो जाती है। उसका संबंध साधारण आदमी के जीवन से कट जाता है।"[24] इसी वजह से धूमिल साठोत्तरी हिन्दी कविता को युग परिवर्तनकामी कविता मानते हैं। उनकी मानें तो "भाषा के आधार पर सातवें दशक की कविता लय से मुक्त होती है। कविता और भाषा का फर्क खत्म हो जाता है तथा कविता भाषा और भाषा कविता बन जाती है।"[25] कहने का आशय यह है कि काव्य भाषा के स्तर पर कलात्मकता और कल्पना का अतिरेक उन्हें स्वीकार नहीं है। धूमिल एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने असहमति, आक्रोश, विद्रूपता, घृणा आदि जैसे भावों को काव्य भाषा में सार्थक रूप प्रदान किया इसीलिए वे अकविता की सामान्य काव्य प्रवृत्तियों का अतिक्रमण भी करते हैं। कुमार कृष्ण धूमिल की काव्य भाषा संबंधी विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं- "साठोत्तरी कविता के कवियों में धूमिल का भाषा पर एक विशेष ढंग का चिंतन रहा है। वह अकविता से कविता पर आते हुए भाषा-मुक्ति और भाषा संदर्भ का आग्रह प्रस्तुत करते हैं। वह जानते हैं

कि घिसी-पिटी भाषा से काम नहीं चल सकता। इस कवि का ध्यान है कि पेशेवर भाषा के तस्कर संकेतों में अर्थ खोजना व्यर्थ है। वह उस भाषा को कविता में लाते हैं जो बौखलाए और घिरावग्रस्त आदमी की तकलीफ को ठीक व्यंजित कर सके। धूमिल की भाषा उस समय का साक्ष्य प्रस्तुत करती है जब सांस्कृतिक विघटन के कारण सभ्यता के प्रवेश द्वार में दरार पड़ जाती है।"[26]

अपने समय के लोकतंत्र की गहन पड़ताल धूमिल अपनी सशक्त काव्य भाषा में करते हैं। भाषा की साजिश के प्रति वे निरंतर जनता को आगाह करते हैं –

"भाषा उस तिकड़मी दरिंदे का कौर है
जो सड़क पर और है
संसद में और है
इसलिए बाहर आ!
संसद के अँधेरे से निकलकर
सड़क पर आ!
भाषा ठीक करने से पहले आदमी को ठीक कर"[27]

आज के लोकतंत्र को सबसे पहले राजनीतिज्ञों की भाषा ने भ्रष्ट किया है इसलिए उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से धूमिल कहते हैं कि राजनीति के पेशे से जुड़े मनुष्यों को ठीक करने की जिम्मेदारी जनता की सबसे पहले है।

साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोकतंत्र के विघटन की सबसे सफल अभिव्यक्ति धूमिल के काव्य में मिलती हैं। उन्हें संसद रूपी सरसों की घानी में आधे तेल और आधे पानी की मिलावट साफ नजर आती है। भारतीय लोकतंत्र में चुनाव से जनता को बेहतर परिवर्तन की उम्मीद रहती है। चुनाव के प्रति प्रारंभ में सकारात्मक उत्साह रखने वाले धूमिल खुद अपने गंवई जीवन की राजनीति में उपेक्षित से रहे। एक दर्शक के रूप में उन्होंने जो ग्रामीण स्तर की राजनीति है, उसका व्यंग्यात्मक चित्रण किया है-

"सारा माहौल जब एक चुनाव की
तैयारी में मशगूल है
वहां जीवन अब भी
संसद की कार्रवाई से बाहर निकाले गये
वाक्य की तरह
तिरस्कृत है।"[28]

नई कविता और अकविता से अलग जनवादी कविता की भाषा कवियों द्वारा चीजों को सही नाम से अभिव्यक्त करने की मानसिकता से जुड़ा हुआ है। वे कविता में शब्दाडम्बर के विरूद्ध हैं क्योंकि वे सामाजिक जीवन में आम जन की जिंदगी के वजूद की बारीकियों को साधारण बोलचाल की भाषा में पेश करना चाहते हैं। इस दौर में कवियों की काव्य भाषा पर प्रकाश डालते हुए 'वशिष्ठ अनूप' लिखते हैं- "जनवादी कवियों ने भाषा संबंधी तमाम नये प्रयागों के द्वारा पूर्व स्थापित बहुत सारी मान्यताओं को पीछे छोड़ दिया है। इन कवियों ने काव्य भाषा को परिवेश और कथ्य के अनुरूप परिवर्तित किया है। इन कवियों के शब्द साधारण जीवन के दैनिक प्रयोगों से गृहित होते हैं और उनके काव्य में प्रयुक्त होकर वे एक नई प्राणवत्ता से भर जाते हैं। जनवादी कवियों ने अपने काव्य में बहुत सारे वर्जित शब्दों जिनसे बहुत सारे शुद्धतावादी और आदर्शवादी लोगों को परहेज हो सकता है, का खूब धड़ल्ले से प्रयोग किया है। इससे न केवल उनकी अभिव्यकित क्षमता धारदार हुई बल्कि कविता साधारण लोगों के करीब भी पहुँची है।"[29]

लोकतंत्र के वाहक नए बिंब और प्रतीक

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता में लोकतंत्र के वाहक नये बिंबों और प्रतीकों की बहुलता दिखाई देती है। सबसे पहले आते हैं नई कविता पर। इस दौर की कविता में काव्य बिंबों और प्रतीकों पर ज्यादा जोर दिया गया है। तीसरे सप्तक के कवि केदारनाथ सिंह का यह मानना कि कविता में उनका सबसे ज्यादा जोर बिंब विधान पर रहता है, उपरोक्त बात की पुष्टि करता है। बिंब की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं- "प्राचीन काव्य में जो स्थान 'चरित्र' का था आज की कविता में वही स्थान बिंब अथवा 'इमेज' का है।'[30] नई कविता में मुक्तिबोध, सर्वेश्वर, केदारनाथ सिंह और अज्ञेय जैसे कवियों ने बिंबों का पर्याप्त प्रयोग किया है।

नई कविता के कवियों में मुक्तिबोध के यहां लोकतांत्रिक चेतना के गहरे बिंब पाये जाते हैं। लोकतंत्र की जो विफलता स्वतंत्रता के बाद विकराल रूप में हमारे सामने आती है उस विफलता के बेहद बारीक बिंब मुक्तिबोध की कविता में मिलते हैं, 'भूल गलती' कविता इस बात का उम्दा उदाहरण है। इसमें सत्तासीन सरकार की विफलता के सशक्त बिंब उभारे गये हैं –

"छाये जा रहे हैं सल्तनत पर घने साये स्याह,
सुलतानी जिरह बख़्तर बना है सिर्फ मिट्टी का,
वो-रेत का-सा ढेर- शाहंशाह,
शाही धाक का अबब सिर्फ सन्नाटा!!"[31]
वो आँखें सचाई की निकाले डालता,
सब बस्तियाँ दिल की उजाड़े डालता,
करता, हमें वह घेर,
बेबुनियाद, बेसिर-पैर .....
हम सब क़ैद हैं उसक चमकते तामझाम में,
शाही मुक़ाम में!!"

सर्वेश्वर की भाषा, बिंब और प्रतीक ने हिन्दी कविता की लोकतांत्रिक चेतना को और अधिक मजबूत किया है। सर्वेश्वर के यहां बिंब अज्ञेय की तरह दूरगामी क्षेत्रों से नहीं आते बल्कि गहरे संवेदना को सहज शब्दों में ठोस वक्तव्यों का रूप लिए आते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो लोकतांत्रिक समाज है उसमें अपने मूल जरूरतों में से एक भोजन अर्थात भूख से मुक्ति के लिए संघर्ष करते सामान्य जन का सहज शब्दों में गहरा अर्थ लिए बिंब निर्मित करते हैं-

"जब भी/भूख से लड़ते/कोई खड़ा हो जाता है/सुन्दर दीखने लगता है/
झपटता बाज/फन उठाये सांप/दो पैरों पर खड़ी/
काँटों से नन्हीं पत्तियाँ खाती बकरी/दबे पाँव झाड़ियों में चलता चीता/डाल पर उल्टा लटक/
फल कुतरता तोता/या इन सब की जगह/आदमी होता।"[32]

आपातकालीन परिस्थितियों में जब निरंकुश सत्ता ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा दिया था उस समय भी सर्वेश्वर बिंबों के माध्यम से जनता में सत्ता विरोध की मानसिकता निर्मित कर रहे थे-

"एक बच्चा नक्शे में रंग भरता है
तुम जानते हो वह कहाँ गया?

एक बच्चा नक्शा फाड़ देता है
यदि तुम जानते होते
तो चुप नहीं बैठते
इस तरह।"[33]

इसी तरह से नई कविता के कवियों की लोकतांत्रिक चेतना मौलिक उद्भावना का आधार लिए बिंबों में व्यक्त हुई है। ये बिंब हमें सिर्फ चौंकाते नहीं हैं बल्कि व्यवस्था के विद्रूप पक्ष और उससे जुड़ी उम्मीद की गहराई से परिचित कराने की क्षमता रखते हैं।

नई कविता में बिंबों की भाँति प्रतीक भी नये लोकतांत्रिक संदर्भों को मौलिक रूप प्रदान करते हैं। मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' इसका सशक्त प्रमाण है। रक्तालोक-स्नात पुरुष, सत्-चित वेदना, डोमा जी उस्ताद जैसे सर्वथा मौलिक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। सर्वेश्वर की कविताओं में जंगल, भेड़िया, तेंदुआ, कुत्ता, गुबरैला, साँप, लालटेन, आग, मशाल जैसे सशक्त प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। इन प्रतीकों के माध्यम से सर्वेश्वर सत्ता के अलोकतांत्रिक चरित्र का पर्दाफाश करते हैं। आपातकालीन परिस्थितियों में कविता के लिए ये प्रतीक बहुत कारगर सिद्ध हुए।

'नई कविता' में बिंबों की बहुलता और केन्द्रीयता के कुछ दुष्परिणाम भी हुए इस ओर इशारा करते हुए डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं- "इसे विरोधाभास ही कहना चाहिए कि जब से कविता में बिंबों की प्रवृत्ति बढ़ी, सामाजिक जीवन के सजीव चित्र दुर्लभ हो चले। सुन्दर बिंबों के चयन की ओर कवियों की ऐसी वृत्ति हुई कि प्रस्तुत गौण हो गया और अप्रस्तुत प्रधान। इस तरह कवि की दृष्टि ही संकुचित नहीं हुई, कविता का दायरा भी सीमित हो गया।"[34]

साठोत्तरी हिन्दी कविता में धूमिल, सौमित्र मोहन, राजकमल चौधरी ने अपनी कविताओं में सत्ता के कुरूप चेहरे को सशक्त प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया है। धूमिल ने अपनी कविताओं में 'जनतंत्र', 'समाजवाद', 'संसद और सड़क', 'घोड़ा और घास' जैसे प्रतीकों का प्रयोग किया है। एक कविता का उदाहरण देना दिलचस्प होगा इस कविता में धूमिल सत्ता के दोहरे चरित्र को सशक्त बिंब और प्रतीक के माध्यम से उजागर करते हैं –

"एक अजीब सी प्यार भरी गुर्राहट
जैसे कोई मादा भेड़िया
अपने छौने को दूध पिला रही है और
साथ ही किसी मेमने का
सिर चबा रही है।"[35]

इस तरह के सशक्त बिंबों और प्रतीकों से भरी कविताएं धूमिल ने लिखी जो सत्ता के अलोकतांत्रिक चरित्र को उजागर करने में सहायक हुई। इसी तरह सौमित्र मोहन की कविता 'लुकमान अली' एक ऐसे आम जन का प्रतीक है जो इस लोकतंत्र में तटस्थ दर्शक की भूमिका भर निभाता है –

"लुकमान सिर्फ दर्शक है
अन्याय, अत्याचार, मूल्यहीनता और नारे
लगाने वाली नेताओं की भीड़ का"[36]

संदर्भ सूची

[1]महावीर वत्स - साठोत्तरी कविता में सांस्कृतिक चेतना, पृ.सं. 242

[2]वही

[3]विजय कुमार - साठोत्तरी हिन्दी कविता परिवर्तित दिशाएं, पृ.सं. 2

[4]वही, पृ.सं. 3

[5]विजय कुमार - साठोत्तरी हिन्दी कविता परिवर्तित दिशाएं, पृ.सं. 3

[6]अजय तिवारी - नागार्जुन की कविता, पृ.सं. 163

[7]वही

[8]विजय कुमार - साठोत्तरी हिन्दी कविता परिवर्तित दिशाएं, पृ.सं. 6

[9]डॉ. वशिष्ठ अनूप - हिन्दी की जनवादी कविता, पृ.सं. 150

[10] कुमार कृष्ण - दूसरे प्रजातंत्र की तलाश में धूमिल, पृ.सं. 9

[11] अरविंद त्रिपाठी - नई कविता और विजयदेवनारायण साही, पृ.सं. 105

[12] रामविलास शर्मा - नई कविता और अस्तित्ववाद, पृ.सं. 72

[13] वही

[14] वही

[15] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.सं. 423

[16] सं. वीरेन्द्र जैन - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ग्रंथावली, पृ.सं. 334

[17] वही

[18] सं. सुरेश शर्मा - रघुवीर सहाय रचनावली, पृ.सं. 116

[19] सं. वीरेन्द्र जैन - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ग्रंथावली, पृ.सं. 335 भाग-1

[20] वही, पृ.सं. 131

[21] सं. सुरेश शर्मा - रघुवीर सहाय रचनावली पृ.सं. 79, भाग-1

[22] विजय कुमार - साठोत्तरी हिन्दी कविता परिवर्तित दिशाएं, पृ.सं. 67

[23] धूमिल - संसद से सड़क तक, पृ.सं. 88

[24] राहुल - विपक्ष का कवि धूमिल, पृ.सं. 152

[25] वही, पृ.सं. 152-53

[26] कुमार कृष्ण - दूसरे प्रजातंत्र की तलाश में धूमिल, पृ.सं. 177

[27] धूमिल - संसद से सड़क तक, पृ.सं. 96

[28] धूमिल - सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र, पृ.सं. 48

[29] डॉ. वशिष्ठ अनूप - हिन्दी की जनवादी कविता, पृ.सं. 165

[30] महावीर वत्स - साठोत्तरी कविता में सांस्कृतिक चेतना, पृ.सं. 270

[31] गजानन माधव मुक्तिबोध - चाँद का मुंह टेढ़ा है, पृ.सं. 32

[32] सं. वीरेन्द्र जैन - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ग्रंथावली (भाग 2), पृ.सं. 106

[33] वही, पृ.सं. 96

[34] नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान, पृ.सं. 125

[35] धूमिल - संसद से सड़क तक, पृ.सं. 112

[36] महावीर वत्स - साठोत्तरी कविता में सांस्कृतिक चेतना, पृ.सं.281